ISSN: 2395-7852

International Journal of Advanced Research in Arts, Science, Engineering & Management

Volume 10, Issue 3, May 2023

INTERNATIONAL STANDARD SERIAL NUMBER INDIA

Impact Factor: 6.551

+91 9940572462 +91 9940572462 ijarasem@gmail.com www.ijarasem.com

International Journal of Advanced Research in Arts, Science, Engineering & Management (IJARASEM)

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 6.551 |Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 10, Issue 3, May 2023 |

मुंशी प्रेमचंद के साहित्य में दलित विमर्श

Anita Dadupanthi

Ph.D. Research Scholar, Jyoti Vidyapeeth Women's University, Jaipur, Rajasthan, India

सार

प्रेमचन्दजी ने दलितों में जन जागरण लाने का एक माध्यम शिक्षा को मानते हैं। उनके विचार में शिक्षा से ही दलित समाज में सामाजिक चेतना का उन्मेश हो सकता है। दलितों के वैचारिक उद्धार के लिए शिक्षा ही सबल माध्यम है। प्रेमचन्द युग में अस्पृश्य जाति के लिए मंदिर प्रवेश निषेध था। प्रेमचंद के दलित विमर्श को लेकर हिन्दी लेखकों में काफी विवाद है। प्रेमचंद के जीवनकाल के दौरान भी उनके साहित्य को लेकर विवाद उठते रहते थे। उनके जीवनकाल में ही उन्हें 'घृणा का प्रचारक', 'ब्राह्मण विरोधी', 'प्रचारवादी', विदेशी साहित्य का नकलची इत्यादि कहा गया।इस सारे दुष्प्रचार का जवाब प्रेमचंद ने तो अधिक नहीं दिया, लेकिन उनके प्रशंसक बालकृष्ण शर्मा नवीन ने कहा था कि प्रेमचंद के निंदक मर जाएंगे, लेकिन प्रेमचंद जीवित रहेंगे।आज कौन पं. ज्योतिप्रसाद निर्मल या ठाकुर श्रीनाथ सिंह या ऐसे कुछ और लोगों का नाम जानता है, जिन्होंने प्रेमचंद के जीवनकाल में उनपर बहुत नीचे स्तर पर आक्रमण किए थे। लेकिन प्रेमचंद पर आक्रमणों का सिलसिला पूरी तरह खत्म कभी नहीं हुआ।

परिचय

प्रेमचंद के देहांत के 65-70 साल बाद उनके बहुचर्चित उपन्यास 'रंगभूमि' को सार्वजनिक रूप से जलाया गया और उन्हें 'दलित विरोधी' कहा गया।हाल में उन्हें 'सामंत का मुंशी और 'जारकर्म का दोषी' करार दिया गया। कुछ वर्ष पूर्व उन्हें 'सूदखोर' आदि उपाधियों से विभूषित किया गया था। इन सब आरोपों के साथ एक प्रेमचंद को या तो साहित्य से खारिज करने की या उनका कद कम करने की कोशिश की जाती है तो दूसरी ओर उन्हें बेहद गरीब, बेचारा मास्टर, लेकिन जनता का महान लेखक सितारा आदि रूप में संकल्पित किया जाता है।[1]1980 में यदि उनकी जन्मशती पर ढेरों कार्यक्रम हुए तो 25 बरस बाद अब उनकी सवा सौंवी जयंती पर देशभर में कार्यक्रम हो रहे हैं।प्रेमचंद के प्रति दोनों ओर से यह अतिवादी दृष्टिकोण है। स्वयं प्रेमचंद को अपनी चाटुकारिता पसंद न थी। कई जगह पर उन्होंने लिखा है कि उन्हें 'उपन्यास सम्राट' [2]आदि उपाधियों की जरा भी इच्छा नहीं है, इस तरह की उपाधियां देने का उन्होंने हमेशा जोरदार विरोध किया और जीवन और साहित्य में वस्तुगत और संतुलित नजरिया अपनाने पर जोर दिया।प्रेमचंद ने अपने जीवन में संतुलित नजरिया अपनाने का भरसक प्रयत्न किया और उनका दलित विमर्श इसी संतुलित और वस्तुगत दृष्टिकोण का परिचायक है।किसी भी लेखक में किसी तरह के विमर्श को देखने समझने के लिए दो-तीन आधार है । सबसे बड़ा और प्रमुख आधार है उसका लेखन सृजनात्मक व चिंतनपरक दोनों, लेकिन मुख्य तौर पर सृजनात्मक।दूसरा आधार है उसका अपना जीवन व्यवहार। जीवन व्यवहार के स्तर पर भारत के ही नहीं; दुनिया के लेखकों के जीवन में भी अन्तर्विरोध मिलेंगे।लेखकों में सोचने लिखने और स्वयं अपने जीवन में उस सोच को अपनाने के स्तर पर अनेक अन्तर्विरोध मिलेंगे।[3] लेखकों में सोचने लिखने और स्वयं अपने जीवन में उस सोच को अपनाने के स्तर पर अनेक अन्तर्विरोध उभर आते हैं।लेखक के अपने जीवन और उसके लेखन के जीवन में जश्मीन आसमान का फर्क है। एक लेखक का जीवन लगभग सौ वर्ष में सिमट जाता है, लेकिन उसके लेखन का जीवन, दशकों, सदियों व कई बार सहस्राब्दियों तक भी चल सकता है और प्रेमचंद के लेखन का जीवन उनके व्यक्ति जीवन के प्रति तमाम तरह की प्रतिक्रियाओं के बावजूद, काफी दीर्घकालीन रहेगा।लेखक के व्यक्तिगत जीवन संबंधी प्रमाणिकता की तलाश उनके जीवनकाल में ही अधिक सार्थक होती है। लेखक के देहांत के बाद उसके जीवन की घटनाओं पर प्रतिक्रियाएं एक हद तक निरर्थक प्रयास होते हैं या ज्यादा से ज्यादा उनका महत्व एकेडमिक स्तर तक सीमित होता है।अब यदि प्रेमचंद पर जारकर्म के आरोप लगाए भी जाएं तो दुनिया की कोई भी अदालत मृत व्यक्ति पर मुकदमा चलाने की इजाजत नहीं देती और जब तक किसी व्यक्ति पर लगे आरोपों की किसी न्यायिक अदालत द्वारा पुष्टि न कर दी जाए, तब तक उन आरोपों का अपराधी उन्हें नहीं घोषित किया जा सकता।[4]

हां, लेखक का लेखन हमेशा पाठकों/आलोचकों की कचहरी में पड़ताल के लिए उपलब्ध रहता है और वह एक ऐसी प्रमाणिक सामग्री है, जिससे जीवित या मृत लेखक किसी भी तरह मुनकर नहीं हो सकता, केवल उस सामग्री की व्याख्या से जीवित अवस्था में वह अपनी सहमति/असहमति व्यक्त कर सकता है।तो वस्तुगत स्तर पर प्रेमचंद के किसी भी विमर्श को उनके जीवन से नहीं उनके लेखन से व्याख्यायित किया जाना जरूरी भी है और सही तथा वस्तुगत भी।उनके जीवन में बार-बार झांकना कई बार अपनी

ही दृष्टि की सीमाओं को जगजाहिर करना सिद्ध हो जाता है। अतः प्रेमचंद का जीवन जैसा भी था और प्रायः वह अपने लेखन के काफी हद तक अनुरूप ही था,[5] उनके लेखन को ही उनके दलित विमर्श को समझने का आधार बनाया जाएगा और जैसे उनके अपने जीवन में अन्तर्विरोध थे, कुछ कुछ वैसे ही अन्तर्विरोध उनके लेखन में भी नजर आते हैं, जिनपर इस आलेख में ध्यान आकर्षित किया जाएगा।प्रेमचंद ने करीब साढ़े तीन दशक के अपने लेखन काल में विपुल मात्रा में साहित्य रचा है, जिसमें सृजनात्मक और चिंतनपरक दोनों तरह का साहित्य शामिल है। उनके लेखन में करीब पन्द्रह उपन्यास, ढाई सौ के करीब कहानियां, तीन नाटक, कुछ बच्चों के लिए लेखन के अतिरिक्त अनुवाद अहंकार (अनातोले फ्रांस), गाल्सवर्दी के तीन नाटक, फिसानाए आज़ाद का लिप्यंतरण (आजाद कथा) के साथ-साथ 'विविध प्रसंग' के तीन खंडों में आठ सौ के करीब लेख, टिप्पणियां व समीक्षाएं तथा चिट्ठी पत्रा' को दो भागों में पांच सौ साठ से ऊपर पत्र शामिल हैं।दुलारे लाल भागर्व व कुछ अन्य व्यक्तियों से भी उनके पत्र मिल जाते तो यह संख्या हज़ार का आंकड़ा पार कर जाती। प्रेमचंद के जीवन व लेखन पर ढेरों किताबें, हिन्दी और उर्दू में छप चुकी है[6] व छप रही है लेकिन उनका जीवनवृत जानने के लिए उनके अपने 'जीवनसार' या मेरी पहली रचना के इलावा उनकी पत्नी शिवरानी देवी रचित 'प्रेमचंद घर में', पुत्र अमृत राय रचित **'कलम का सिपाही'** व मदन गोपाल रचित **'कलम का मजदूर'** ही ज्यादा महत्वपूर्ण हैं।अमृतराय और मदन गोपाल ने लगभग साथ ही साथ प्रेमचंद की जीवनी लिखी और दोनों ही जीवनियों में विवरण का अद्भुत साम्य मिलता है। लेकिन मदन गोपाल की जीवनी में श्रद्धा कम, तथ्यों व घटनाओं का विवरण अधिक वस्तुगत है।[7]

प्रेमचंद के इस विपुल साहित्य में से उनके सृजनात्मक साहित्य में अभिव्यक्त दलित विमर्श से ही हिन्दी में अधिकांश विवाद पैदा हुए हैं। जैसे उनकी 'कफन' कहानी पर 'दलित विरोधी' होने का आरोप लगने से कही पहले हंसराज रहबर ने इस पर प्रगतिवाद विरोधी कहानी होने का आरोप लगा दिया था। दलित साहित्य पर पिछले एक दशक से शुरू हुई चर्चा में 'कफन' को 'दलित विरोधी' कहानी कहा गया।'रंगभूमि' उपन्यास की उसके छपने से लेकर भारतीय दलित साहितय अकादमी द्वारा 2004 में सार्वजनिक रूप से उसकी प्रतियां जलाए जाने तक प्रायः प्रशंसा ही हुई है।प्रेमचंद के जीवन काल में तो 'रंगभूमि' को ही प्रेमचंद का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जाता रहा, 'गोदान' से भी बढ़ कर। प्रेमचंद के देहांत के बाद 'गोदान' को उनकी ही नहीं, हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ (शायद उर्दू की भी)[8] औपन्यासिक रचना माना गया। साथ ही 'कर्मभूमि', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', व सेवासदन भी अन्य उपन्यासों की अपेक्षा अधिक चर्चा में रहे।**'रंगभूमि'** की प्रशंसा में उसके साहित्यक गुणों के साथ साथ पहली बार एक दलित को उपन्यास का नायक बनाने को भी सराहनीय समझा गया, लेकिन उपन्यास छपने के करीब अस्सी वर्ष बाद दलित नायकत्व स्थापित करने वाले उपन्यास को इस आधार पर 'दलित विरोधी' कहा गया कि उसमें सूरदास का उल्लेख, जातिवाचक नाम के साथ किया गया है। और इसे हाल में बने उस कानून का उल्लंघन बताया गया, जिसके अनुसार किसी व्यक्ति को अपमानित करने के लिए उसकी जाति का उल्लेख नहीं किया जा सकता।इस कानून का सन्दर्भ उच्च जाति से संबंधित उन वर्चस्ववादी वर्गों जैसे जमींदार, कारखानेदार, बड़े अफसर आदि का है, जो अपने यहां काम करने वाले मजदूरों या मातहतों को उनकी जाति का नाम लेकर अपमानित करते हैं,[9] जिनका बड़ा मार्मिक वर्णन ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में मिलता है।लेकिन 'रंगभूमि' के किसी भी पाठक या आलोचक को उसमें प्रेमचंद द्वारा अपने किसी पात्र को इस ऐसे नज़रिए से पेश करने की गवाही नहीं मिल सकती।'रंगभूमि' के नायक सूरदास की जाति चमार होने का स्पष्ट उल्लेख करके भी प्रेमचंद ने उसे इतना सम्मानीय पात्र बनाया है कि तथाकथित ऊंची जातियों के लोग उसकी कुर्बानी के सामने बौने नज़र आते है और उसकी कीर्ति से स्पृहा करते हैं।इसी प्रकार प्रेमचंद के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' के बहुचर्चित सिलिया मातादीन प्रसंग में भी जिस आक्रामक ढंग से मातादीन के मुंह में हड्डी डालकर उसे चमार बनाया जाता है और कैसे पं. दातादीन को चमारिन स्त्री सिलिया को उसके पुत्र द्वारा भोग्या समझे जाने पर दंडित किया जाता है, इससे भी प्रेमचंद का अक्स दलित विरोधी का न होकर काफी सशक्त दलित समर्थक का ही उभरता हे।उपन्यास की अन्य प्रमुख पात्र कुर्मी स्त्री धनिया का किरदार भी प्रेमंचद ने ऐसी प्रखर और जागरूक स्त्री के रूप में चित्रित किया है कि उपन्यास के सभी पुरुष पात्र उसके सामने छोटे लगने लगते हैं।[10]**'कर्मभूमि'** उपन्यास में तो प्रेमचंद ने दलितों के लिए अत्यंत संवेदनशील मुद्दे मंदिर प्रवेश की ही समस्या नहीं उठाई, बल्कि दलित कर्म के संगठित होकर संघर्ष करने का भी विसतार से चित्राण किया है। 'कर्मभूमि' में दलित समस्याओं व संघर्षों का चित्राण व्यापक रूप में किया गया है।**'प्रेमाश्रम'** में अछूतों से बेगार लिए जाने व किसानों द्वारा भी उनसे अच्छा व्यवहार न किए जाने का चित्राण हुआ है। 'कायाकल्प' में भी दलितों द्वारा बेगार करवाए जाने की प्रथा के प्रतिरोध के स्वर मुखरित हुए हैं। 'कायाकल्प' में प्रेमचंद पहली बार चमारों के लिए मजदूर शब्द का भी इस्तेमाल करते हैं।'गबन' उपन्यास में प्रेमचंद ने देवीदीन खटीक के पात्र रूप में राष्ट्रीय आंदोलन में दलितों के योगदान को रेखांकित किया है। 'गबन' के दलित पात्र अपने को निम्न जाति न समझ कर अपने जाति गौरव का भी परिचय देते हैं।[11]

इस आलेख में प्रेमचंद के चिंतनपरक लेखन में दलित विमर्श पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया गया है, लेकिन उनके कथा-साहित्य पर संक्षेप में इसलिए विचार किया गया है कि प्रेमचंद के दलित विमर्श संबंधी अभी तक उनके सृजनात्मक साहित्य को केन्द्र में रख कर ही चर्चा अधिक हुई है। उपन्यासों के अतिरिक्त दलित जीवन को मार्मिक रूप से चित्रित करने वाली प्रेमचंद की करीब पचास कहानियों में से अधिक चर्चित कहानियां हैं । 'सद्गति', 'ठाकुर का कुआं', 'मंदिर', 'मंत्र', 'घासवाली', 'सवा सेर गेहूँ', 'शूद्र', 'कफन', 'देवी', आदि। 'कफन' को यद्यपि दलित विरोधी या प्रगतिवाद विरोधी कहा गया है, लेकिन कहानी के वस्तुगत ढंग से अध्ययन से ऐसी कोई लेखकीय भावना नजर नहीं आती। 'कफन' कहानी में बल्कि एक रूपक के ज़रिए वर्चस्ववादी या शोषक वर्गों द्वारा गरीब व दलित वर्गों के क्रूर शोषणका वर्णन कथित निठल्ले पात्रों द्वारा करवाया गया है।ऐसे पात्रा गोर्की व लूशुन की कहानियों में भी मिलते हैं और वहां भी गोर्की व लूशुन की लेखकीय संवेदना अपने ऐसे ही चोर या निठल्ले पात्रों से ही जुड़ी होती है।[12] सृजानात्मक साहित्य में दलित पात्रों के चित्राण के साथ साथ प्रेमचंद ने 'ज़माना', 'मर्यादा', 'माधुरी', 'हंस' और 'जागरण' आदि पत्रा-पत्रिकाओं में समय-समय पर संपादकीयों या अन्य लेख व टिप्पणियों के रूप में भारतीय समाज में व्याप्त दलित समस्या पर गंभीरता से चिंतन किया है।1933 में 'हंस' के एक अंक के मुखपृष्ठ पर प्रेमचंद ने डॉ. अंबेडकर का चित्रा भी छापा, जो उन दिनों काफी बड़ी बात थी। विविध प्रसंग के तीन खंडों में से दूसरे खंड में 'छूत अछूत' शीर्षक से प्रेमचंद के 27 लेख या टिप्पणियां संकलित है। इसी खंड में 'राष्ट्रीय रंगमंच स्वाधीनता संग्राम' शीर्षक से संकलित लेखों में 'अछूतपन मिटता जा रहा है', में भी प्रेमचंद का दलित विमर्श अभिव्यक्त हुआ है। खंड एक में 'पुराना जमाना नया जमाना तथा खंड तीन में 'जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान', जातिभेद मिटाने की एक योजना', 'हिन्दू समाज के बीभत्स दृश्य' (1-3) में भी प्रेमचंद का दलित विषयक चिंतन उभर कर सामने आया है।

प्रेमचंद के चिंतनपरक इन तीस से अधिक लेखों/टिप्पणियों द्वारा प्रेमचंद का दलित चंतन भी स्पष्ट देखा जा सकेगा, साथ ही इस बात को भी देखा जा सकेगा कि प्रेमचंद के कथा साहित्य में दलित जीवन या पात्रों का जैसा चित्राण हुआ है, वह उनके इन लेखों के चिंतन का ही प्रतिरूप है या उससे कुछ अलग है।फरवरी 1919 के 'ज़माना' (उर्दू) में प्रकाशित 'पुराना ज़मानाः नया ज़माना' लेख में प्रेमचंद ने दलित समस्या की ओर प्रत्यक्ष ध्यान तो नहीं दिलाया है, लेकिन रूस की अक्टूबर 1917 की क्रांति की प्रशंसा करके किसान मजदूरों की दशा की ओर ध्यान दिलाकर अपने चिंतन के जनतांत्रिक तत्व को अवश्य रेखांकित कर दिया[13] 'क्या यह शर्म की बात नहीं कि जिस देश में नव्वे फीसदी आबादी किसानों की हो, उस देश में कोई किसान सभा, कोई किसानों की भलाई का आंदोलन, कोई खेती का विद्यालय, किसानों की भलाई का कोई व्यवस्थित प्रयत्न न हो। आने वाला ज़माना अब किसानों और मज़दूरों का है।दुनिया की रफ्तार इसका साफ सबूत दे रही है। हिन्दुस्तान इस हवा से बेअसर नहीं रह सकता। (विविध प्रसंग भाग एक, पृ. 268, 1962 संस्करण)'विविध प्रसंग' भाग तीन में संकलित प्रेमचंद के बहुचर्चित निबंध 'जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान' में 1933 में लिखा कि उन पर उनकी रचनाओं में ब्राह्मणों के प्रति घृणा के प्रचार का आरोप है।इस आरोप को नकारते हुए प्रेमचंद ने स्पष्ट किया कि 'नवीन साहित्य समाज का खून चूसने वालों, रंगे सियारों, हथकंडेबाजों और जनता के अज्ञान से अपना स्वार्थ सिद्ध करने वालों के विरूद्ध उतने ही ज़ोर से आवाज उठा रहा है और दीनों, दलितों, अन्याय के हाथ सताये हुओं के प्रति उतने ही जोर से सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा है।प्रेमचंद की दलित वर्ग के प्रति चिंता वास्तव में जनतांत्रिक विचारों से ओत-प्रोत है। फरवरी 1934 में लिखी टिप्पणी 'जातिभेद मिटाने की एक योना में भी प्रेमचंद बड़े व्यंग्य से पूछते हैं.[14]

"क्या, हम पहले कायस्थ या ब्राह्मण या वैश्य हैं, पीछे आदमी। किसी से मिलते ही एक पहला सवाल यही करते हैं कि आप कौन साहब है। ग्रामीणों में भी यही प्रश्न पूछा जाता है कौन ठाकुर? और हम कितने गर्व से अपने को शर्मा, वर्मा, तिवारी, चतुर्वेदी लिखते हैं कि क्या पूछना?यह इसके सिवा क्या है कि भेदभाव हमारे रक्त में सन मया है और हममें जो पक्के राष्ट्रवादी है, वे भी अपनी सांप्रदायिकता का बिगुल बजाकर फूले नहीं समाते, वरना उसकी जरूरत ही क्या है कि हम अपने को चतुर्वेदी या त्रिवेदी कहें। खासकर उस दशा में कि हमने वेद की सूरत भी नहीं देखी और इसमें भी संदेह है कि हमारे पूर्वजों ने भी कभी इसके दर्शन किए थे।"[15]

विविध प्रसंग के इसी खंड में प्रेमचंद ने तीन भागों में लेख श्रृंखला लिखीμहिन्दू समाज के वीभत्स दृश्य। मार्च-अप्रैल 1934 में लिखी इस श्रृंखला के पहले भाग में हिन्दू समाज में लाश की कैसे दुर्गति की जाती है, इस पर विस्तार से चर्चा की है, दूसरे भाग में

अंधविश्वासों की, जिसके चलते तीर्थस्थान 'ठगों के अड्डे और पाखंडियों के अखाड़ें बन गए हैं और तीसरे भाग में मंदिरों की भीतरी दुर्दशा के चित्रा खींचे गए हैं. जितनी तीखी भाषा में प्रेमचंद ने इस कटु यर्थाथ को व्यक्त किया है वैसा किसी दलित पृष्ठभूमि में लेखक ने भी नहीं किया होगा।.''इन मंदिरों की आड़ में आज बड़े-बड़े लल्जाजनक कृत्य हो रहे हैं। पुजारियों का, महंतों का और धर्मगुरूओं का जीवन भयानक विलासित से भरा हुआ है। वे मंदिरों की आड़ में जघन्य से जघन्य कर्म करते नहीं शर्माते। ईश्वर को गाना सुनाकर खुश रखने के लिए उन्हें वेश्याएं चाहिएं। इस बहाने वे अपने राक्षसी कामना को पूरी करते और अपने जीवन को विलास-वासना और पतन के गहरे गढ़े में डाल देते हैं।[16]

जिस पर भी हिन्दू समाज के लिए वे पूज्य हैं, माननीय हैं और देवता तुल्य हैं, क्योंकि वे पुजारी हैं, महन्त हैं और धर्मगुरू हैं ।''विविध प्रसंग खंड दो' में दलित प्रश्न पर अधिक विचार मिलते हैं और ये विचार गांधी और गांधीवाद से प्रभावित हैं। मई 1932 की छोटी से टिप्पणी 'अछूतपन मिटता जा रहा है' में प्रेमचंद ने कहा।'जाति के बंधन इन कल कारखानों के युग में बहुत दिन तक नहीं रह सकते। महात्मा गांधी अछूतों की लड़ाई लड़ रहे हैं और इस काम में उन्हें कितने ही सज्जनों का सहयोग मिल रहा है। आधी कठिनाई इसलिए बढ़ गई है कि अछूत स्वयं अपने को नीच समझता है और ऊंची जातियों से दूर रहना ही अपना धर्म समझता है। (पृ. 93)इस टिप्पणी की पहली पंक्ति सैद्धान्तिक रूप में सही है, लेकिन कल कारखाने लगने के सौ से ज्यादा साल बाद तक अभी व्यवहारिक रूप में सही सिद्ध नहीं हो पाई है। अंत में अछूतों द्वारा स्वयं को नीचा समझा जाने की वृति तो ब्राह्मण वर्ग ने मनुस्मृति' आदि ग्रंथों द्वारा उनके दिमाग में कूट-कूट कर भरी है, उस विषैली व खुद की दुश्मन वृति से अब वे मुक्त हो रहे हैं और इससे मुक्त होने में भूमिका गांधी की न होकर डॉ. अंबेडकर व उनके चिंतन की है, जिससे प्रेमचंद अभी कुछ दूर ही थे।**छूत-अछूत** शीर्षक से संकलित 27 लेख भी 1932-34 के बीच ही लिखे गए हैं, वास्तव में इन लेखों से प्रेमचंद का दलित विमर्श अधिक साफ तरीके से उभरा है।[17]
'छूत-अछूत' शीर्षक से पहला लेख 'महान तप' है, जिसमें महात्मा गांधी द्वारा दिसंबर 1932 में यरवदा जेल में दलितों के लिए पृथक निर्वाचन के विरोध में भूख हड़ताल शुरू किए जाने का संदर्भ है। 19 दिसंबर 1932 को छपे इस लेख में महात्मा गांधी के प्रति प्रेमचंद की श्रद्धा छलक-छलक पड़ती है 'धन्य हो महात्मा!राष्ट्र की सेवा में तुम पहले ही अपना सर्वस्व अर्पण कर चुके थे। एक प्राण रह गया था। उसे भी राष्ट्र को ही भेंट करने जा रहे हो।' (विविध प्रसंग, भाग दो, पृ. 437, 1962 संस्करण)'हम स्वीकार करते हैं कि शूद्रों के साथ हमने अन्याय किया है। हमने उन्हें भी भर कर रौंदा, कुचला, दला। इस अन्याय ने जिस हृदय को सबसे ज्यादा दुखी किया है, वह उसी तपस्वी का हृदय है जिसने अपना जीवन दलित भाईयों की सेवा में ही व्यतीत किया है (वही पृ. 438)। प्रेमचंद इस लेख में पूरे तौर पर गांधी के विचारों का समर्थन करते हैं और दलित वर्ग या समुदाय को हिन्दू समाज का ही अंग मानते हैं। 'उनके देवता वही है, जो सब हिन्दुओं के हैं। आदर्श वही हैं दृष्टिकोण वही हैं। हिन्दुत्व उनके अणु अणु में भरा हुआ है। (पृ. 439, वही)[18]

विचार-विमर्श

26 सितंबर 1932 को प्रकाशित अपने लेख 'हमारा कर्तव्य' में प्रेमचंद सम्मिलित निर्वाचन संबंधी गांधी-अंबेडकर समझौते का स्वागत करते हैं व गांधी जी के सात दिन के उपवास से हासिल इस समझौते को ऐतिहासिक और अभूतपूर्व बताते हुए ब्रिटिश राजनीतिज्ञों द्वारा 'महान कौटिल्य के सीमेंट से तैयार' उस दीवार को ध्वस्त करना बताते हैं जो 'हिन्दू अछूतों को अलग करने के लिए बनाई थी।इस लेख में वे अपने पाठकों को गांधी का यह वचन भी याद दिलाते हैं। 'अस्पृश्यता या छुआछूत अगर हिन्दू धर्म में हो तो मुझे कहना पड़ेगा कि उसमें शैतानियता भरी हुई है, धर्म नहीं,। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दू धर्म में यह सब कुछ नहीं है।' (पृ. 442)इन दोनों लेखों से स्पष्ट है कि दलित संबंधी चिंतन में प्रेमचंद डॉ. अंबेडकर से अधिक महात्मा गांधी से प्रभावित थे,। 14 नवम्बर 1932 को 'हरिजनों के मंदिर प्रवेश का प्रश्न' विषय पर प्रेमचंद चिंता व्यक्त करते हैं कि उस समय के इस सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न का हल यदि जल्द न किया गया तो 'महात्मा जी फिर न अनशन शुरू कर दें।' 21 नवंबर 1932 को इसी विषय पर प्रकाशित अपने लेख में प्रेमचंद ने बनारस के तथाकथित 'वर्णाश्रम स्वराज्य संघ' के अछूतों के मंदिर प्रवेश के विरोध के आंदोलन की जमकर खबर ली है, जिसके 'फीटन आरोही मार्तण्डों में एक पुरी के श्री 108 शंकराचार्य भी थे। इस लेख में हिन्दू धर्म नेताओं में व्याप्त पाखंड की प्रेमचंद ने धज्जियां उड़ाई है।'अछूत के पैसे तो आप बेधड़क ले लेते हैं अछूत कोई मंदिर बनावे, आप दलबल के साथ जाएंगे, मंदिर में देवता की स्थापना करेगे, तर माल खाएंगे, हां अछूत ने उसे छुआ न हो। दक्षिणा लेंगें, इसमें कोई हर्ज नहीं, न होना चाहिए। लेकिन अछूत मंदिर में नहीं जा सकता, उसने देवता अपवित्रा हो जाएंगे। (पृ. 448 वही)पाखंडी ब्राह्मणों की खबर लेते हुए प्रेमचंद ने इसी लेख में आगे लिखाμ'इसी काशी में हजारों मदसेवी ब्राह्मण और वह भी तिलकधारी निकल आएंगे।, फिर भी वे ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणों के घरों में चमारियां हैं, फिर भ्झी उनके ब्राह्मणत्व में बाधा नहीं आती, किन्तु अछूत नित्य स्नान करता हो, कितना ही आचारवान हो, वह मंदिर में नहीं जा सकता। क्या इसी

नीति पर हिन्दू धर्म स्थिर रह सकता है? (पृ. 449, वही) इन्हीं वर्षों में डॉ. अंबेडकर ने घोषणा की थी कि उनका जन्म तो उनके वश में नहीं था, लेकिन वे एक हिन्दू के रूप में कभी नहीं मरेंगे और मृत्यु से दो महीने से कम समय पहले, लेकिन इस घोषणा के बीस वर्ष बाद 14 अक्टूबर 1956 को डॉ. अंबेडकर ने अकेले नहीं, अपने लाखों श्रद्धालुओं के साथ हिन्दू धर्म का त्याग करके बौद्ध धर्म में दीक्षा ली।[19]डॉ. अंबेडकर ने हिन्दू धर्म में सुधार का बीस वर्ष तक इंतज़ार किया, लेकिन देश की आजादी के दस वर्ष बाद तक भी जब हिन्दू धर्म में सुधार होता उन्हें नज़र नहीं आया और अपनी सन्निकट मृत्यु के दरपेश उन्होंने अपना सार्वजनिक रूप से दिया वचन निभाया और भारत के दलित वर्ग के सामने भी नया पथ खोला, दुर्भाग्य से जिस पथ पर डॉ. अंबेडकर के नाम लेवा दलित नेता भी नहीं चले।5 दिसंबर 1932 को प्रकाशित अढ़ाई पंक्तियों की टिप्पणी में प्रेमचंद ने नागपुर में हरिजन बालकों के लिए अलग छात्रावास बनाने का विरोध किया, क्योंकि इससे 'अछूतपन मिटेगा नहीं और दृढ़ होगा। इस नीति पर तो अब की भारत सरकार भी चल रही है। 30 जनवरी, 1933 को मंदिर प्रवेश पर वाइसराय के रूख की आलोचना करते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि 'मद्रास कौंसिल में रीयुत सुब्बरायन को 'मंदिर प्रवेशाधिकार संबंधी बिल पेश करने का अधिकार नहीं दिया। (पृ. 418) ज़ाहिर है कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद भारत में 'फूट डालो और राज करो' नीति के तहत दलित समस्या का भी लाभ उठा रहा था।[20] असेंबलियों में दलित 'पृथक निर्वाचन' क्यों चाहते थे, इसका एक उदाहरण तो प्रेमचंद ने अपनी 10 अप्रैल 1933 को प्रकाशित टिप्पणी में स्वयं ही दे दिया है। महात्मा गांधी के अनशन के दबाव के नीचे डॉ. अंबेडकर ने 'सम्मिलित निर्वाचन स्वीकार कर लिया, लेकिन बंबई कारपोरेशन के चुनाव में एक हरिजन श्री देवरूखकर को सवर्ण हिन्दुओं ने जैसे हराया उससे प्रेमचंद को तो ठेस पहुंची, लेकिन उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया कि पृथक निर्वाचन की बात सही थी। हालांकि उन्होंने इस टिप्पणी के अंत में चेतावनी जरूर दे दी 'अगर सजातीय हिन्दू इस तरह हरिजन उम्मीदवारों को हतोत्साहित करते रहे तो आपस में वैमनस्य और असंतोष बढ़ेगा और पूना के समझौते का जो उद्देश्य था वह गायब हो जाएगा।' (पृ. 461 वही)हरिजनों या दलितों के मंदिर प्रवेश के अधिकार और आंदोलन को लेकर प्रेमचंद ने इस बीच कई लेख लिखे। इसके इलावा 8 जनवरी 1934 को एक लंबा लेख क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं? उपशीर्षक टके पंथी पुजारी, पुरोहित और पंउे हिन्दू जाति के कलंक हैं, लिखा। इस लेख में प्रेमचंद ने सांप्रदायिकता और जातिवाद को राष्ट्रवाद के घोर विरोधी बताते हुए लिखा।'हिन्दू जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक यही टकेपंथी दल हैं, जो एक विशाल जोंक की भांति उसका खून चूस रहा है और हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है। राष्ट्रीयता की पहली शर्त है, समाज में साम्य भाव का दृढ़ होना। उसके बिना राष्ट्रीयता की कल्पना नहीं की जा सकती। (पृ. 417 वही)राष्ट्रीयता की अपनी अवधारणा की कुछ और व्याख्या करते हुए प्रेमचंद इसी लेख में आगे कहते हैंμ'हम जिस राष्ट्रीयता का स्वप्न देख रहे हैं, उसमें तो जन्मगत वर्णों की गंध तक न होगी वह हमारे श्रमिकों और किसानों का साम्राज्य होगा, जिसमें न कोई ब्राह्मण होगा, न हरिजन न कायस्थ न क्षत्रिय। उसमें सभी भारतवासी होगे, सभी ब्राह्मण होगे या सभी हरिजन होगे। (पृ. 473)
इस लेख में प्रेमचंद ने पं. ज्योतिप्रसाद निर्मल द्वारा अपने ऊपर लगाए आरोपों का उत्तर भी दिया हैμ'निर्मल जी हमें ब्राह्मण द्वेषी बताकर संतुष्ट नहीं हुए उन्होंने हमें हिन्दू द्रोही भी सिद्ध किया है, क्योंकि हमने अपनी रचनाओं में मुसलमानों को अच्छे रूप में दिखाया है। तो क्या आप चाहते हैं कि हम मुसलमानों को भी उसी तरह चित्रित करें जिस तरह पुरोहितों और पाखंडियों को करते हैं? हमारा आदर्श सदैव से यह रहा है कि जहां धूर्तता और पाखंड और सबलों द्वारा निर्बलों पर अत्याचार देखों, उसको समाज के सामने रखो, चाहे हिन्दू हो, पंडित हो, बाबू हो, मुसलमान हो, या कोई हो। इसलिए हमारी कहानियों में आपको पदाधिकारी, महाजन, वकील और पुजारी गरीबों का खून चूसते हुए मिलेंगे और गरीब किसान मजदूर, अछूत और दरिद्र उनके आघात सहकर भ्झी अपने धर्म और मनुष्यता को हाथ से न जाने देंगे, क्योंकि हमने उन्हीं में सबसे ज्यादा सच्चाई और सेवाभाव पाया है। (पृ. 475, वही)लेख के अंत में प्रेमचंद एक बार फिर इस बात पर जोर देते हैं कि राष्ट्रीयता की पहली शर्त वर्णव्यवस्था, ऊंचनीच के भेद और धार्मिक पाखंड की जड़ खोदना है।' (पृ. 476, वही)8 जनवरी 1934 को प्रकाशित प्रेमचंद का यह लेख उनके दलित विमर्श पर भविष्य की भारतीय समाज व्यवस्था के अवधारणा की समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। वास्तव में इस लेख में दलित समस्या संबंधी प्रेमचंद के विचार महात्मा गांधी के विचारों से आगे बढ़े हुए दिखाई देते हैं। विशेषतः भारतीय समाज व्यवस्था के नए संभावित रूप का उनका स्वप्न प्रगतिशील विचारों व वर्ग दृष्टि की झलक देता है।'छूत-अछूत' शीर्षक से लेखमाला की अंतिम टिप्पणी 14 मई 1934 को प्रकाशित है जो एक साथ कटु और मार्मिक दोनों है शीर्षक है।'इस हिमाकत की कोई हद है?'।शुरू का वाक्य है।[21] 'छूआछूत और जातपांत का भेद हिन्दू समाज में इतना बद्धमूल हो गया है कि शायद उसका सर्वनाश करके ही छोड़े।' यह पूरी टिप्पणी यहां प्रेमचंद के शब्दों में ही दर्ज हैμ'खबर है कि किसी स्थान में एक कुलीन हिन्दू स्त्रा कुएं पर पानी भरने गई।संयोगवश कुएं में गिर पड़ी। बहुत से लोग तुरन्त कुएं पर जमा हो गए और उस औरत को बाहर निकालने का उपाय सोचने लगे, मगर किसी में इतना साहस नहीं था कि कुएं में उतर जाता। वहां कई हरिजन भी जमा हो गए थे। वे कुएं में जाकर उस स्त्री को निकाल लाने को तैयार हुए, लेकिन हरिजन कुएं में कैसे जा सकता था। अपवित्र हो जाता, नतीजा यह हुआ कि अभागिनी स्त्री कुएं में मर गयी।प्रेमचंद का निष्कर्ष वाक्य है 'क्या छूत का भूत कभी हमारे सिर से न उतरेगा?
वास्तव में प्रेमचंद के विचारों में गांधीवाद से मोहभंग 1934 के आसपास ही होना शुरू हुआ था और 1936 में तो वह पूरी तरह से उनसे मुक्त हो गए थे। उसका बहुत बड़ा कारण प्रेमचंद का भारतीय साहित्य परिषद को 'हंस' सौंपने और किए उनसे निराश

होकर वापिस लेने में निहित है, जिसके तुरंत बाद वे गंभीर रूप से बीमार पड़े और उन्हें अपने विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति का अवसर ही नहीं मिल पाया, थोड़ी बहुत अभिव्यक्ति केवल अधूरे उपन्यास 'मंगलसूत्र' में ही कर पाए। इस प्रसंग को मदन गोपाल ने प्रेमचंद की अपनी जीवनी 'कलम का मजदूर' में संक्षेप में दर्ज किया है। जैनेन्द्र कुमार के सुझाव पर 1935 में भारतीय साहित्य परिषद में 'हंस' को अपना मुख पत्र बनाने का प्रस्ताव किया, जिसमें सभी भाषाओं के साहित्य का हिन्दी अनुवाद छपना था। प्रेस को हो रहे लगातार घाटे के कारण प्रेमचंद ने सोचा था कि परिषद 'हंस' को उनके ही प्रेस में छपवाती रहेगी, लेकिन परिषद ने उसे सस्ता साहित्य मंडल प्रेस दिल्ली से छपवाने का निर्णय किया। 'हंस' के संपादक रूप में प्रेमचंद के साथ कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का नाम जुड़ा।[22]

अक्टूबर 1935 से 'हंस' नए रूप में निकला। 'हंस' के 22 सदस्य सलाहकार मंडल में पहला नाम महात्मा गांधी का था। भारतीय साहित्य परिषद की कार्यकारिणी के सभापति भी महात्मा गांधी ही थे।इधर प्रेमचंद जून 1936 में घातक रूप से बीमार पड़े और जून और जुलाई 1936 के 'हंस' में सेठ गोविंददास के नाटक 'स्वातंत्र्य सिद्धान्त' नाटक के प्रकाशन पर अंग्रेज सरकार ने एक हजार रूपये की ज़मानत मांग ली। भारतीय साहित्य परिषद ने इतने बड़े बड़े व्यक्तियों के कार्यकारिणी में होते हुए, जिनके रहते किसी तरह भी पैसे की कमी न हो सकती थी, 'हंस' की जमानत राशि जमा करने से इन्कार कर दिया।12 अगस्त 1936 को 'हंस' की ज़मानत राशि न भर पाने से 'हंस' का प्रकाशन बंद करने की घोषणा प्रेमचंद के ही नाम से की तथा साथ ही भारतीय साहित्य परिषद से 'हंस' के संबंध विच्छेद की भी, जिसके लिए उन्होंने 'सस्ता साहित्य मंडल,' दिल्ली का पता परिषद के साथ पत्र व्यवहार के लिए दिया।पहले से ही गंभीर रूप से बीमार प्रेमचंद के लिए यह भयानक आघात था, बिना उनसे पूछे उनके नाम से यह घोषणा की गई। उनके परिवार और मित्रां ने प्रेमचंद की रूग्ण दशा और 'हंस' के प्रति प्रेमचंद के लगाव को देखते हुए यह ज़मानत राशि जमा करवाई। 'हंस' को प्रेमचंद अपना तीसरा पुत्र मानते थे।जीवन में गांधीवादियों के प्रेमचंद के साथ इस अमानुषिक कृत्य ने वास्तव में प्रेमचंद को निर्णायक रूप से गांधी और गांधीवाद से अलग किया।[23] सितंबर में 'हंस' को दोबारा निकालते हुए इसे प्रगतिशील, अन्त:प्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय रूप देते हुए 'आलोचनात्मक, उन्नतिमूलक और विवेक प्रणीत' साहित्य का पूर्ण समर्थक और संदेशवाहक बनाया गया। जैनेन्द्र कुमार और श्री भारतीय को प्रेमचंद के अतिरिक्त संपादक बनाया गया।'हंस' के इसी अंक में 'महाजनी सभ्यता' लेख छपा जो उनके चिंतन में प्रगतिशील दिशा में निर्णायक मोड़ का प्रतिविम्ब है। 'दो बहनें' कहानी में भी इन विचारों की झलक मिलती है। लेकिन प्रेमचंद के चिंतन में यह निर्णायक मोड़ उस घड़ी व उन परिस्थितियों में आया, जब वे मृत्युशैय्या पर थे।'हंस' का अक्टूबर 1936 अंक शायद उनके जीवन काल में निकल ही नहीं पाया। लेकिन प्रेमचंद ने मृत्युशैय्या पर लेटे हुए भी भारतीय साहित्य परिषद द्वारा 12 अगस्त, 1936 को जो क्रूरता उनके साथ की गई, उसका हिसाब सितंबर अंक में चुकता करके ही संसार से विदा ली। जीवन के अंतिम क्षणों में उन्हें ऐसे आघात न लगते तो शायद वे कुछ और समय जी जाते और अपनी वैचारिक प्रखरता व प्रतिबद्धता को और स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त कर जाते। कुल मिलाकर प्रेमचंद का जीवन, व्यक्तित्व व चिंतन एक निरंतर संघर्ष की गाथा है, जो गुण के स्तर पर उच्च से उच्चतर की ओर गया है। उनके चिंतन और लेखन का मूलतत्व मानववाद और विवेकशील जनतांत्रिक भावना थी। उनके सृजनात्मक लेखन में दलित विमर्श इतना प्रखर है कि उनकी जाति संबंधी जानकारी न हो तो उसे किसी दलित पृष्ठभूमि के लेखक की रचना भी समझा जा सकता है। उनके चिंतनपरक लेखन में व्यक्त दलित विमर्श गांधी और गांधीवाद से प्रभावित है, लेकिन चेतना का जो स्वरूप विकसित हो रहा था, हिन्दी और अन्यभाषी पाठक उससे वंचित रह गए, लेकिन उसका अंतिम स्वरूप निश्चय ही उच्चतर मानववादी या भगत सिंह के विकसित हो रहे समाजवादी चिंतन जैसा ही होता। ज़ाहिर है उससे उनका दलित विमर्श भी और अधिक प्रखर व निखरा हुआ होता।[24]

परिणाम

कोई भी साहित्यकार युगीन परिस्थितियों से निश्चित रूप से प्रभावित होता है, लेकिन उसके व्यक्तिगत जीवन की घटनाएँ भी उसके साहित्य पर अनजाने में ही अपनी प्रतिच्छाया डालती है। प्रेमचंद साहित्य भी इस तथ्य का अपवाद नहीं है। प्रेमचंद का जीवन काफी संघर्षमय परिस्थितियों में गुजरा। इन्हीं परिस्थितियों ने उनके जीवन को घटना संकुल बना दिया, जिससे उन्हें जीवन में संघर्ष करने का अदम्य साहस प्राप्त हुआ।

प्रेमचंद की अधिकांश कहानियों में दलित की समस्याओं को ग्रामीण जनता की आम समस्याओं का एक अंग बनाकर ही चित्रित किया गया है। प्रेमचंद की विशेषता यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति निरंतर संघर्ष करते हुए भी उन्होंने देश के अन्य वर्गों के बीच मौजूद अन्तर्विरोधों को नजर से ओझल नहीं होने दिया। ग्रामीण समाज का चित्रण करते हुए उन्होंने अपनी कहानियों का केन्द्रीय मुद्दा वहां के शोषित-पीड़ित जन के उस आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न को बनाया।

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 6.551 |Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 10, Issue 3, May 2023 |

प्रेमचंद की विशेषता यह है कि वह वर्ग के आर्थिक शोषण के पक्ष को कभी अपनी नजर से ओझल नहीं होने देते। आखिर इस शोषण को बरकरार करने के लिए ही जो जात - पात, धर्म - अधर्म और ऊँच - नीच का तामझाम तैयार किया है।

प्रेमचंद नेएक अछूत जाति के पात्र को नायक बनाकर क्रांतिकारी कार्य किया, सूरदास में गांधी की छविउतारकर और भी बड़ा काम किया और धर्म - न्याय - सत्य की लड़ाई लड़ने के कारण उसे भारत केवीर - त्यागी महापुरुषों की परंपरा से जोड़ दिया। वह अंधा है, भिखारी है, पर उसकी अंतर्दृष्टि प्रबलहै। उपन्यास के सभी सवर्ण पात्रा - राजा - महाराजा, शासक, उद्योगपति आदि सभी उसके सम्मुख श्रद्धासे झुकते हैं तथा उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं। उपन्यास के अंत में उसका बलिदान गांधी के बलिदान से कम नहीं है। अतः 'रंगभूमि' तो दलित जाति के नायक को गांधी का प्रतीकबनाकर उसे समाज के शिखर पर स्थापित करती है, न कि किसी जाति का अपमान करती है।सूरदास प्रेमचंद की महान एवं कालजयी सृष्टि है और दलित जाति के लिए तो वह गौरव का केंद्रहै। इसी प्रकार 'गोदान' में मातादीन - सिलिया के प्रसंग में दलितों द्वारा ब्राह्मण मातादीन के मुंह मेंहड्डी डालने का प्रसंग एक बार फिर प्रेमचंद के दलित - दर्शन के क्रांतिकारी रूप को उद्घाटित करताहै।[22]

गांधीजी दलितों को हिन्दू धर्म से अलग नहीं करना चाहते थे, वे चाहते थे कि उनके साथ अमानुषी व्यवहार न हो पर उन्हें पृथक करके उन्हें हिन्दू से अलग नहीं करना चाहते थे। इसी के विरोध में गांधीजी ने यरवदा जेल में 20 सितम्बर 1932 को आमरण अनशन शुरू किया। गांधीजी की हालत बिगड़ने लगी डॉ. अंबेडकर पीछे हटे एवं हिन्दू नेताओं के बीच समझौता हुआ जिसे 'पूना एक्ट' कहा जाता है। जिसके तहत दलितों को सामान्य चुनाव क्षेत्र के अंग, विधान सभाओं में अधिक सीटें, एवं हिन्दू सीटों के कोटे से अपने लिए आरक्षित सीटों के लिए निर्वाचन मंडलों द्वारा सदस्य चुन सकते हैं। प्रेमचंद गांधीवादी थे, उन्होंने अपने लेखों के द्वारा गांधीजी को न केवल सहयोग दिया पर अंग्रेजों की नीति पर कटाक्ष भी किया। "डॉ. अंबेडकर की पृथक निर्वाचन की मांग पर 22 अगस्त 1932 जागरण में उनकी संपादकीय टिप्पणी में लिखा है कि "सांप्रदायिक भेद की नीति ही आपत्तिजनक है, गवर्नमेंट भारत को राष्ट्र नहीं समझती है, हम अपने व्यवहार में ऐसा समझने का अवसर ही नहीं देते हैं। वह तो भारत को सम्प्रदायों की दृष्टि से देखती है। अतैव साम्प्रदायिक मताधिकार के लिए हम इतने इच्छुक हों, यह तो गवर्नमेंट की दृष्टि का समर्थन है।"

संकीर्ण अर्थ में तो अछूतों में भंगी, चमार आदि वही जातियाँ आती हैं, जिनके सदस्यों को मंदिर और धार्मिक स्थानों आदि में जाने देने की अनुमति की तो बात ही क्या उन्हें हाथ लगाना और उनका छुआ पानी पीना भी वर्जित है और यदि उच्च जातियों के लोगों से ऐसा पाप हो जाय तो हिन्दू धर्म में उसके प्रायश्चित का विधान है। व्यापक अर्थ में इन जातियों में वे लोग भी शामिल हो जाते हैं, जिन्हें आजकल 'पिछड़ी जातियों' से संबंधित माना जाता है। जैसे धोबी, पासी, गड़रिया, कुरमी, अहीर आदि। शायद उसकी वजह यह हो कि पारिभाषिक अर्थ में अछूत न होते हुए भी और खुद को उनसे ऊँचा मानते हुए भी इन जातियों के सदस्य ज्यादातर या तो छोटे किसान है या फिर खेत मजदूरी करतें हैं और गाँव की श्रेणी सारणी में इनका स्थान काफी नीचे होता है। प्रेमचंद ने भीलों, कंजरों और अन्य उपेक्षित जन जातियों को भी इसी वर्ग में शामिल कर लिया है। शायद इस व्यापक दृष्टिकोण के कारण ही प्रेमचंद अपनी कहानियों में अक्सर पात्रों की जातियों का उल्लेख तक नहीं करते। ऐसे में अनेक रीति - रिवाज या आचार - व्यवहार से ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका संबंध तथाकथित - दलित' या निम्न जातियों से है।"

कोई भी साहित्यकार युगीन परिस्थितियों से निश्चित रूप से प्रभावित होता है, लेकिन उसके व्यक्तिगत जीवन की घटनाएं भी उसके साहित्य पर अनजाने में ही अपनी प्रतिच्छाया डालती है। प्रेमचंद साहित्य भी इस तथ्य का अपवाद नहीं है। प्रेमचंद का जीवन काफी संघर्षमय परिस्थितियों में गुजरा। इन्हीं परिस्थितियों ने उनके जीवन को घटना संकुल बना दिया, जिससे उन्हें जीवन में संघर्ष करने का अदम्य साहस प्राप्त हुआ।[24]

किसी भी कलाकार की कृतियों को अथवा साहित्य की रचनाओं को पढ़ने से पूर्व हम यह ज्ञात करना चाहते हैं कि उस कलाकार अथवा साहित्यकार की रचनाएं किस प्रकार की होंगी या उसने समाज के कौन से पहलू को छेड़ा होगा तो उस कलाकार के घर के बारे में, उसके जीवन के बारे में और किस वातावरण में रहकर उसने साहित्य रचना की होगी, इन सब बातों का अनुमान हमें उसकी रचना को पढ़ने से पहले ही लगा लेना चाहिए। क्योंकि कोई भी कलाकार, साहित्यकार अथवा चित्रकार अपनी

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 6.551 |Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 10, Issue 3, May 2023 |

कृतियों में, रचनाओं में और चित्रों में अपना व्यक्तित्व लाये बिना नहीं रह सकता। जब कोई सफल कलाकार अपनी कृतियों में यथार्थ का चित्रण लाये बिना नहीं रह सकता या यूं कह सकते हैं कि अपने आस-पास के वातावरण से प्रभावित होकर मानव-जीवन के बहुत समीप नहीं जाता। तब तक वह सफल कलाकार नहीं बन सकता।

प्रेमचंद ने किसानों को भी दलितों के अन्तर्गत रखा है। जिस पर डॉ. रामवृक्ष कहते हैं कि -- "ब्राह्मण भारतीय किसान का परम्परागत शोषक है। सैकड़ों वर्षों से भारतीय समाज में ऐसी परंपराएं चल रहीं हैं, जिसके कारण ब्राह्मण का शोषण वैद्य बन गया है। किसान इस शोषण को नहीं समझता और न पंडितजी इसे शोषण समझतें हैं। प्रेमचंद ने इस परम्परागत शोषण को शोषण के रूप में दिखाया है। पंडे-पुजारियों का यह शोषण 'दान' के रूप में होता है। इसमें देने वाला लेने वाले पर कोई उपकार नहीं करता, बल्कि उल्टे लेने वाला दान लेकर देने वाले पर उपकार करता है।"

प्रेमचंद का घर अथवा परिवार बहुत ऊँचा या सम्पन्न नहीं था। वे निर्धन परिवार से संबंधित थे और जैसा उन्होंने स्वयं कहा है :

'मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गड्ढे तो हैं, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खड्डों को स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौकीन हैं उन्हें तो निराशाहोगी।'

भारतीय समाज में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था, जाति, अस्पृश्यता शोषण, दमन, उत्पीडन के खिलाफ संघर्ष की लंबी प्रक्रिया रही है। हिंदू व्यवस्था की अमानवीयता का परिणाम इतना भयानक है कि आज भी भारतीय समाज हजारों जातियों में बंटा हुआ है। जातिगत भेदभाव आज भी उसी प्रकार जडें जमाए हुए हैं, जैसा कि हजारों वर्षों पहले था। दलित विमर्श इस जड़ को उखाड़ फेंकने के लिए कृतसंकल्प है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में, भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था के आधार पर जो बंटवारा हुआ, उसकी ही देन है जातिभेद।

उल्लेखनीय है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था पुनर्जन्म ओर कर्मफल के तर्क पर आधारित है। इसके तर्कों के अनुसार जाति स्वयं भगवान का करिश्मा है। दलितों के लिए सवर्णों की सेवा करना आवश्यक बना दिया गया और यही उनकी मुक्ति का मार्ग था। या इसे उनकी गुलामी का मार्ग भी बताया जा सकता है। परन्तु वर्ण-व्यवस्था क पक्षधर ये मानने को तैयार ही नहीं है कि विकास को रोक देने वाली यह व्यवस्था प्रगति पथ को सीमित कर देती है और समाज को संकीर्णता में बाँध देती है।"

हिंदू समाज की सारी मान्यताओं को यदि देखा जाए तो वह हिंदू समाज के विरोध में ही खड़ी नजर आती है। समाज में ऐसे अनेक प्रचलित मुहावरे, लोकोक्तियां, कहावतें हैं जो दलितों के प्रति घृणा भाव दर्शाते है। जैसे किसी भी व्यक्ति से बातचीत करने पर यह जुमला सुनने को मिल जाता है, 'क्या मुझे चोर-चमार समझ रखा है।' ऐसे अनकों मुहावरे और कहावतें हैं जिनको इकट्ठा करने पर पूरे ग्रंथ की रचना की जा सकती है। एक कहावत है कि 'कोदो सावां अन्न नहीं, डोम चमार जन नहीं।' यह कहावत दलितों की स्थिति बयान करती है।

भारतीय समाज-व्यवस्था की भेदभावपूर्ण क्रूर प्रणाली ने धार्मिक चोगा पहनकर और मर्यादा का आवरण ओढ़कर ब्राह्मणवाद का रूप धारण किया, जिसने धार्मिक, कर्मकांड, अंधविश्वास और जन्मना ऊँच नीच की भावना को वैधता प्रदान की। आज भी ये कुरीतियां विभिन्न नियमों, कानूनों के बावजूद अपनी भयानकता के साथ हमारे समाज में विद्यमान है।

भारत में शताब्दियों से अनेक परिवर्तन आये। पहले जब भारत में आर्यों का शासन था तब प्रजा धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से समृद्ध थी लेकिन मुस्लिमों ने जब भारत पर चढ़ाई की तब भारत में राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिकऔर सामाजिक रूप से अंधकार फैल गया था। राजनैतिक पराधीनता ने भारतवासियों को दुर्बलता, दरिद्रता, हीन-भावना और अन्य विकारों से ग्रस्त कर रखा था। पाश्चात्य संस्कृति तथा सभ्यता के साथ हुआ यह साक्षात्कार भारतीय समाज के लिए एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी। कुछ सौ साल पहले मुगलों का आगमन हुआ था, पर वह लगभग आत्मसात हो चुका था। वे यहाँ लूटने आये थे, लेकिन वे लुटेरे से धीरे-धीरे शासक बन गये और बाद में यहीं के होकर रह गये।

इसी सन्दर्भ में भवानीलाल भारतीय का मत है कि -- "विदेशी शासन से उत्पन्न भाव ने भारत के विशाल हिन्दू समाज के धार्मिक आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों को अपूरणीय क्षति पहुंचाई थी। सहस्राब्दियों पूर्व के वैदिक औपनिषदिक तथा रामायण एवं महाभारतकालीन समाज में लोगों की इहलोक एवं परलोक के प्रति जो स्वस्थ दृष्टि थी वह तो अतीत की वस्तु हो ही गई थी, मौर्य और गुप्तयुगीन समृद्धि तथा वैभव तत्कालीन लोगों की कलात्मक अभिरुचि, साहित्य, संगीत, काव्य तथा स्थापत्य के क्षेत्र की बढ़ती उपलब्धियाँ

भी इतिहास की कहानियाँ बनकर रह गई। उस युग में बृहत्तर भारत का जैसा मानचित्र उभरकर आया और पूर्व के समुद्रपारीय देशों पर भारत की सांस्कृतिक विजय ने जैसी छाप छोड़ी वह सब अतीत की वस्तु बन गई थी। धर्म समाज तथा देश के सामान्य जनजीवन पर पराधीनता की काली घटाओं ने आपत्ति ,, विपत्ति , शोषण और अभिशापों की जैसी उपल वृष्टि की , उससे लोगों के दुख और कष्ट बढ़े। "

इस समय लोग आर्थिक रूप से इतने पराधीन हो गये थे कि गरीब और गरीब होने लगे थे और किसान मजदूर बनने लगे थे। गृह उद्योग , कुटीर उद्योग , खेती आदि नष्ट हो गये थे। अंग्रेजों का जुल्म दिन - प्रतिदिन बढ़ने लगा था। राज तो अंग्रेजों ने पहले ही ले लिया था बाद में उन लोगों ने व्यापार में भी अपनी मनमानी चलाई। परिणाम स्वरूप भारतीय जनता गरीब बनती गई और अंग्रेज और धनवान बनते गये। आर्थिक , राजनैतिक रूप से तो हम खत्म हो ही गये थे लेकिन धार्मिक रूप से भी हमारे धर्मगुरुओं ने भारतीय संस्कृति की जड़ को खोखला कर दिया था।[25]

इसी पर अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए भवानीलाल जी लिखते हैं कि - " धर्म के नाम पर थोथा , कर्मकाण्ड , नैतिकता के नाम पर मिथ्या , अंधविश्वासों का प्रचलन तथा सुसंगत एवं उदार सामाजिक विधान स्थान पर कठोर आवर्जनाओं एवं विवर्जनाओं से नियन्त्रित श्रृंखलाबद्ध मूल रूढ़ियों का अनुपालन यह उस युग का सामन्य चित्र था। सर्वत्र संकीर्णता अनुदाता तथा जड़ता व्याप्त थी। मध्यकाल की इस गतिहीन प्राचीनता पोषक तथा युगदृष्टि विरहित जीवन मीमांसा ने जिन सामाजिक बुराइयों को जन्म दिया , उनमें बाल - विवाह का प्रचलन स्त्रियों को पर्दे में रखना , जन्म से जाति के आधार पर समाज का शतधा सहस्रधा विघटन ऊँच - नीच की भावना पर आधारित स्पृश्यास्पृश्य का भाव तथा दलित एवं निम्न वर्ग पर अकल्पनीय अत्याचार आदि उल्लेखनीय है। " इसी सन्दर्भ में वे आगे भी लिखते हैं कि - " उस युग में जो स्थिति हिन्दू धर्म की थी , समाज की दशा उससे किसी भी प्रकार बेहतर नहीं कही जा सकती थी , विगत शताब्दी का हिन्दू समाज सर्वथा जर्जरित और रोग ग्रस्त होकर मरणासन्न स्थिति तक पहुँच चुका था। जातिभेद के भयंकर रूप , दलित एवं शोषित वर्ग की सोचनीय स्थिति तथा नारी जाति पर सीमातीत अत्याचारों ने इस समाज को सर्वथा मुमूर्श बना दिया था। आर्यों का वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित समाज विभिन्न आन्तरिक विग्रहों का शिकार होकर जीवन की अंतिम साँसे ले रहा था। इस काल के ब्राह्मण तेज से रहित , क्षत्रिय क्लीवता एवं दौर्बल्य से पीड़ित , वैश्य धनहीन एवं शूद्र स्वार्थों से पूरित थे। जब तथाकथित द्विजातियों की स्थिति ही सोचनीय रही हो तो शूद्रों के अधःपतन में शंका ही क्या थी ? हिन्दू समाज में अत्यधिक श्रद्धा एवं सत्कार की भाजन साधु - सन्यासी वर्ग भी अविद्या एवं अज्ञानग्रस्त होकर अहंकार में चूर भंग , गांजा , अफीम और मदिरा जैसे मादक द्रव्यों का सेवन करने के कारण सर्वविध पतन के गर्त में गिर चुका था। जिस समाज के अग्रगन्ता ब्राह्मण और सन्यासी ही जब स्वकर्तव्य को विस्मृत कर पापाचरण में प्रवृत्त हो जायें तो अन्य लोगों की कथा ही क्या ? ऐसा लगता था कि मोहमयी मदिरा का पान कर समस्त समाज ही अज्ञानान्धकार में इतस्ततः अंधे की नाई भटक रहा है। जब उसके मार्गदर्शक एवं नेता कहलाने वाले व्यक्ति ही दिग्मूढ़ होकर पथभ्रष्ट हो चुके , तो अनुयायियों के लिए भी ' अंधनैव नीयमाना यथान्धाः ' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए सर्वनाश की ओर अग्रसर होने के अतिरिक्त और कोई उपाय शेष नहीं रहा था। "

" भारत के लोग यह जानते थे कि उनका पतन क्यों हो सकता है। साक्षरता विवेक की रचना में सहायिका हो सकती है किंतु निरक्षर भी विवेकशील हो सकता है और उसका विवेक अधिक प्रभावपूर्ण और प्रभावशाली हो सकता है , लोग साक्षर भले ही न हों पर सदा से विवेकी रहे हैं और मूल्यों का मर्म समझते हैं। केवल आर्थिक और काम जगत के मूल्य उनके नियामक नहीं रहे हैं अपितु वे इनका संचालन भी धर्म और मुक्ति की दृष्टि से करते हैं। पुरुषार्थ चतुष्टय का योग ही भारत की कर्मभूमि की पीठिका का आधार स्तंभ है। तब तक सिद्धि की परिकल्पना भारत की मनीषा नहीं कर सकती जब तक की इन चारों की यौगिक उत्पत्ति से जीवन का संचालन न हो। फूट , परस्पर द्वेष , घृणा , सत्ता का लोभ , ज्ञान , विज्ञान की कमी भारत के पराभव का कारण बनी थी और उन्होंने ऐसी प्रथाओं को जन्म दिया था जिनके कारण देश पराभूत हुआ था। इनके मर्म के अंतर तक भारत की मनीषा पहुँच चुकी थी और यह देश अपने इन मूल्यों की स्थापना के लिए व्याकुल था जिनके कारण यह मुक्त और विराट रहा है। सन् 1857 के विप्लव ने उन मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिए राष्ट्रीय मंच की नींव रखी।[20]

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 6.551 |Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 10, Issue 3, May 2023 |

निष्कर्ष

डलहौजी की युद्ध के द्वारा लैप्स की नीति, वह एक कुशासन द्वारा अपने राज्य को बढ़ाने की उग्र नीति थी। उससे सर्वत्र लोगों में आतंक छा गया। मुगल बादशाहों व शाहजादों के साथ उसका बर्ताव उनको दिल्ली से हटाकर अवध भेजने का विचार, अवध के नबाब वज़ीर को सिंहासन से उतारना, नाना साहब की पेन्शन बंद करना, छोटी-मोटी रियासतों को खत्म कर देना आदि बातों के कारण देश में अंग्रेजों के विरुद्ध असंतोष फैल गया। मुगल व मराठे दोनों सोचते थे कि अंग्रेजों ने उनके साम्राज्यों का विनाश किया है और दोनों ही अपना-अपना राज्य पुनः पाने के लिए लालायित थे। बहुत राज्यों के ब्रिटिश सामा्राज्य में मिल जाने के कारण अनेको भारतीय अधिकारी अपनी जीविका से हाथ धो बैठे तथा बेकार हो गये यद्यपि वे चतुर और अनुभवी थे। इसके अतिरिक्त विजय करने के बाद जब अंग्रेजों ने भूमि का बन्दोबस्त बनाया तो जमीदारों के अधिकारों को रैयत के लिए छीन लिया गया। ईनाम कमीशन ने बम्बई में लगभग 20000 जागीरों का अपहरण कर लिया। बड़े-बड़े राजा महाराजा और अमीर निर्धन होने लगे। अतएव अंग्रेजों के प्रति उनका वैमनस्य स्वाभाविक था। अनेकों राज्यों को जीतकर ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लेने के बाद भारतीय सेनाओं को भंग कर दिया गया जिससे अनेकों अनुभवी व महत्वाकांक्षी सैनिक बेकार हो गये। प्रेमचंद की हर कहानी भारतीय समाज की किसी न किसी रूढ़िगत परंपरा का खंडन करती दिखाई देती है। मेरे शोधप्रबन्ध का विषय 'नवजागरण काल' पर आधारित है। नवजागरण काल में भी भारतीय समाज की कुरीतियों का खंडन-मंडन उस समय के समाज-सुधारकों ने किया था और प्रेमचंदजी ने अपनी कहानियों के माध्यम से उन समाज सुधारकों का साथ दे रहे थे। इसीलिए तो प्रेमचंद को 'कलम का सिपाही' कहा जाता है। प्रेमचंदजी गरमदल और नरमदल के मध्यस्थी थे। गरमदल यानी सुभाषचन्द्र बोस की विचारधारा पर चलने वाले लोग और नरमदल यानी कि गाँधीजी की विचारधारा पर चलने वाले लोग। इन दोनों के आजादी प्राप्त करने के मार्ग अलग अलग थे। प्रेमचंद ने इन दोनों के बीच का मध्यस्थ रास्ता अपनी लेखनी के माध्यम से निकाला। हिन्दी कथा साहित्य में प्रेमचंदजी ने जो गौरव प्राप्त किया है, दलित विमर्श ने तथाकथित मुख्यधारा के साहित्य को कठघरे में ला खड़ा किया है और साहित्य के वास्तविक मर्म को समझाने का यथार्थवादी प्रयास साहित्य की सभी विधाओं के माध्यम से किया है। दलित का सम्बंध चेतना से हैं, दलित को दया और सहानुभूति से घृणा है। यह हीनता की ग्रंथी को तोडकर दलित अस्मिता की प्रखरता को स्थापित करने की ओर अग्रसर है। सदियों से जिसे साहित्य और समाज में हाशिए पर फेंक दिया गया था। जिसे शुद्ध, हरिजन, अवर्ण, पंचम, अतिशूद्र आदि नामों से विहित करके दया का पात्र बना दिया गया था, वही आज प्रखर आत्मबोध के साथ इन सारी शब्दावलियों को ठुकराकर स्वयं 'दलित' के रूप में अपनी अस्मिता का बोध करा रहा है। प्रख्यात मराठी दलित साहित्यकार शरण कुमार लिंबाले के शब्दों में, 'दलित को 'दया' से घृणा है, उस दया और सहानुभूती नहीं' अधिकार चाहिए।[25]

संदर्भ

1) अमृत राय : प्रेमचंद की प्रासंगिकता, हंस प्रकाशन 1985, इलाहाबाद
2) अमृत राय : कलम का सिपाहीहंस प्रकाशन 1981, इलाहाबाद
3) अम्बेडकर : सम्पूर्ण वाग्यंमयप्रकाशन विभाग 1993, नई दिल्ली।
4) आनंद : हिन्दी साहित्य में दलित चेतना विद्या वितर, कानपुर, 1986
5) इन्द्र नाथ मदान : प्रेमचंद : एक विवेचन राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 1989- प्रेमचंद चिंतन व कला सरस्वती प्रैस, इलाहाबाद - "गोदान" मूल्यांकन और मूल्यांकन नीलाभ प्रकाश, इलाहाबाद
6) ओम प्रकाश वाल्मीकि : दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001
7) कंवल भारती : दलित विमर्श की भूमिका इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002
8) जैनेन्द्र कुमार : प्रेमचंद : एक कृति व्यक्तित्व पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली - 1967
9) प्रेमचंद : मानसरोवरखंड आठ, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1966
10) रामविलास, शर्मा (2008). प्रेमचंद और उनका युग. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ॰ 17. आई॰ऍस॰बी॰ऍन॰ 978-81-267-0505-4.
11) ↑ रामविलास, शर्मा (2008). प्रेमचंद और उनका युग. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ॰ 18. आई॰ऍस॰बी॰ऍन॰ 978-81-267-0505-4.

| ISSN: 2395-7852 | www.ijarasem.com | Impact Factor: 6.551 |Bimonthly, Peer Reviewed & Referred Journal|

| Volume 10, Issue 3, May 2023 |

12) ↑ रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995, पृष्ठ 15
13) ↑ रामविलास, शर्मा (2008). प्रेमचंद और उनका युग. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ॰ 19. आई॰ऍस॰बी॰ऍन॰ 978-81-267-0505-4.
14) ↑ बाहरी, डॉ॰ हरदेव (१९८६). साहित्य कोश, भाग-2,. वाराणसी: ज्ञानमंडल लिमिटेड. पृ॰ ३५६.
15) ↑ "Munshi Premchand: गांधी और प्रेमचंद का साथ-साथ चलना हिंदी साहित्य में एक महान उपलब्धि". Dainik Jagran. अभिगमन तिथि 2020-07-31.
16) ↑ बाहरी, डॉ॰ हरदेव (१९८६). साहित्य कोश, भाग-2,. वाराणसी: ज्ञानमंडल लिमिटेड. पृ॰ ३५७.
17) ↑ रामविलास, शर्मा (2008). प्रेमचंद और उनका युग. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ॰ 20. आई॰ऍस॰बी॰ऍन॰ 978-81-267-0505-4.
18) ↑ यह उपन्यास उर्दू साप्ताहिक 'आवाजे खल्क' में 8 अक्टूबर 1903 से 1 फ़रवरी 1905 तक धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ। इसमें लेखक का नाम छपा था- मुंशी धनपतराय उर्फ नवाबराय इलाहाबादी। बाद में स्वयं प्रेमचंद ने इसका हिन्दी तर्जुमा 'देवस्थान रहस्य' नाम से किया, जो उनके पुत्र अमृतराय द्वारा उनके आरंभिक उपन्यासों के संकलन 'मंगलाचारण' में संकलित है।
19) ↑ रामविलास, शर्मा (2008). प्रेमचंद और उनका युग. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ॰ 21. आई॰ऍस॰बी॰ऍन॰ 978-81-267-0505-4.
20) ↑ NEWS, SA (2022-07-30). "Munshi Premchand Jayanti (मुंशी प्रेमचंद जयंती): 'गोदान' उपन्यास के रचयिता प्रेमचंद के बारे में जाने सम्पूर्ण जानकारी". SA News Channel (अंग्रेज़ी में). अभिगमन तिथि 2022-07-30.
21) ↑ सिंह, डॉ॰बच्चन (1972). प्रतिनिधि कहानियाँ. वाराणसी: अनुराग प्रकाशन, विशालाक्षी, चौक. पृ॰ 9.
22) ↑ अमृतराय (1976). प्रेमचंद क़लम का सिपाही. इलाहाबाद: हंस प्रकाशन. पृ॰ 616-17.
23) ↑ वीर भारत, तलवार (2008). किसान राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्द:1918-22. नयी दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ॰ 19-20.
24) ↑ अमृतराय (1976). प्रेमचंद क़लम का सिपाही. इलाहाबाद: हंस प्रकाशन. पृ॰ 618.
25) ↑ अमृतराय (1976). प्रेमचंद क़लम का सिपाही. इलाहाबाद: हंस प्रकाशन. पृ॰ 619.

International Journal of Advanced Research in Arts, Science, Engineering & Management (IJARASEM)

| Mobile No: +91-9940572462 | Whatsapp: +91-9940572462 | ijarasem@gmail.com |

www.ijarasem.com